गायत्री निर्णयः

शैवमतानुसारकृतविस्तृतव्याख्योपेतः

श्री राम शैवाश्रम कृत-

भाष[illegible]द सहितः

मुक्[illegible]विद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्न[illegible]कुटां त[illegible]त्मवर्णात्मकाम् ।
गायत्रीं वरद[illegible]भयाङ्कुशकरां शूलं कपालं गुणं
शङ्खं च [illegible]मथार[illegible]न्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

सं० १९६[illegible]

प्रथम संस्करण [illegible] मूल्य ७५ पैसे

यः सर्वात्माखिलजनविभुर्देवदेवो महेशः
स्वातंत्र्यस्थो ध्रुवपदगतो निश्चलात्मा वरेण्यः ।
विश्वोत्तीर्णो भवभयहरः स्वेच्छया विश्वपूर्णः
तं श्री रामं त्रिभुवनगुरुम् स्वात्मरूपं नमामि ॥



महामाहेश्वराचार्य श्री स्वामी राम जी महाराज
स्थापक
श्री राम शैवाश्रम, फतेहकदल, श्रीनगर
स्थापित १८९४ ई०

भूमिका

प्राचीन काल से ही वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति में गायत्री का कितना महत्त्व रहा है, यह बात किसी से छिपी नहीं है और न ही इसे वर्णन करने की कोई आवश्यकता है। हमारे वेदों ने भी इसे वेदों और शास्त्रों की माता के नाम से पुकारा है :—

"गायत्री छन्दसां माता"

श्री गीता जी में भी कहा है :—

'गायत्री छन्दसामहम्'

यह २४ अक्षरों से बना गायत्री मन्त्र इतना अर्थगर्भ और गम्भीर है कि ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस गायत्री मन्त्र को रचकर मानो गागर में सागर भर दिया है यहां तक कि इसी की व्याख्या में चारों वेद भी रचे गये। अतः इसकी महिमा जितनी भी गाई जाय कम है।

कुछ तो कालगति के कारण और विशेषतः हमारी संस्कृति के पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण भारतवासी प्रायः गायत्री की महिमा को भूल बैठे।

सौभाग्य से स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही देशवासियों के मन में अपनी प्राचीन उच्च सभ्यता और साहित्य को पुनर्जीवित करने की उत्कण्ठा जाग उठी जिस से विवश होकर श्री राम शैवाश्रम, फतह कदल, श्रीनगर ने भी इस ज्ञानयज्ञ में अपनी भेंट यथाशक्ति अर्पण की जो पञ्चस्तवी के रूप में जनता के आगे रखी गई। इसके पश्चात् दूसरे न छपे हुए शैवशास्त्रसम्बन्धी पुस्तकों की खोज करते हुए हमें गायत्री का यह विस्तृत निर्णय, जिसे प्राप्त करने की सभी हिन्दू जनता को तड़प है, प्राप्त हुआ।

यूं तो गायत्री और गायत्री मन्त्र की व्याख्याएं बहुत सी छप चुकी हैं परन्तु वे सब वेदान्त तथा दूसरे भेदवादी मतों के सिद्धान्त के अनुसार की गई हैं। यह गायत्री निर्णय जो जनता के आगे प्रस्तुत किया जा रहा है, शैवमतानुसार अभेद और आध्यात्मिक रहस्यों से पूर्ण है। यही इस ग्रन्थ को विशेषता है!

यह गायत्री निर्णय जिसे हिन्दी भाषानुवाद सहित गायत्री प्रेमियों के आगे भेंट किया जा रहा है, निम्नलिखित हस्तलिखित पुस्तकों पर आधारित है :—

(१) श्री कण्ठ जू काचरू, रैणावारी श्रीनगर निवासी से प्राप्त हुई देवनागरी लिपि में लिखी हस्तलिखित पुस्तक, (इसमें कई स्थानों पर त्रुटियां पाई गईं)

(२) स्व० श्री गोविन्द कौल दफ्तरी, फतेहकदल निवासी से प्राप्त हुई शारदा लिपि में लिखी पत्रिका।

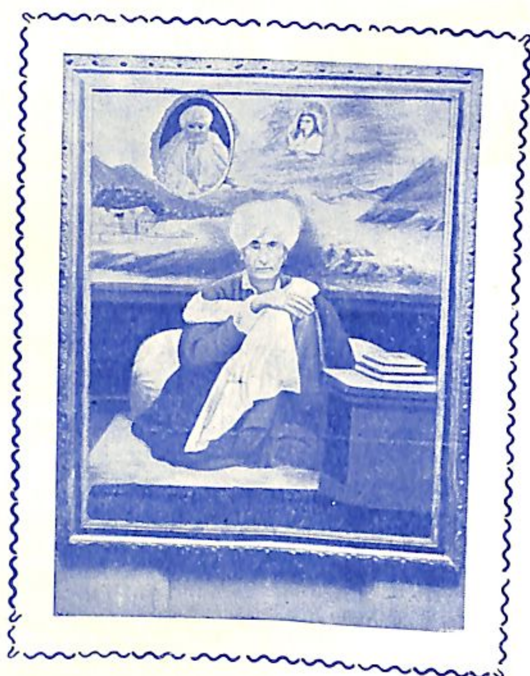
(३) श्री नीलकण्ठ वांचू (स्वर्गीय) शिष्य स्वामी विद्याधर जी की अर्पण की हुई पुस्तिका (केवल गायत्री निर्णय)

इन पुस्तकों में कहीं कहीं पाठभेद भी पाया जाता है। आश्रम का यह दूसरा उपहार (गायत्री निर्णय, हिन्दी भाषा सहित) गायत्री प्रेमियों के आगे पुरस्कृत किया जा रहा है। आशा की जाती है कि प्रेमी पाठक हमारे इस अल्पोपहार को उसी भाव से ग्रहण करेंगे जिस भाव से यह उनके आगे अर्पण किया जा रहा है।

शैवाश्रम, फतेहकदल, श्रीनगर,

२६, ६, १९६५

लोकवद्व्यवहारेऽपि
त्रिपदाव्यभिचारिणम् ।
वैतक्र्यात्म सम्पन्नं
वन्देचिद्भैरवं गुरुम् ॥



श्री स्वामी गोविन्द कौल जी
शिष्य
श्री स्वामी राम जी महराज

अथ

श्री गायत्रीनिर्णयः प्रारभ्यते

ॐ नमो भगवते चिद्भानवे । श्री काशीखण्डे ।
त्रिवर्णमयमोङ्कारं भूर्भुवःस्वरिति त्रयम् ।
पादत्रयं च सावित्र्यास्त्रयो वेदा अदूदुहन् ॥
एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

ॐ भूर्भुवः स्वर् इति मन्त्रः । ॐ तत्रादौ गायत्री शब्दनिरुक्तिः, गायन्तं शब्दयन्तं सर्वात्मकोऽहमेवास्मीति पूर्णाहन्तां विमृशन्तं त्रायते अहन्ताव्यतिरिक्तेदन्ताऽसङ्क[1]ल्पदेवतान्तरोपासनाकलङ्कात्पालयतीति । यदुक्तं महागुरुभि[2]र्गायान्प्राणांस्त्रायत इति प्राणधारिणी । प्राणन[3]स्वरूपार्थः प्रथम प्राणस्वरूपेणावतरति या सैव गायत्री ! 'प्राक्संवित्प्राणे परिणतेत्युक्तेः' । प्राणा[4] वै गायास्तांस्तत्र, तद्यद् गायांस्तत्रे तस्माद्गायत्रीति[5] । तत्र त्रायते इत्यर्थः ।

'शब्दब्रह्ममयं देवमष्टात्रिंशत्कलात्मकम्
पञ्चप्राण[6]समारूढं कारणं परमं शिवम् ।'

---

१. ऽसत्कल्प (पाठान्तर)

२. महागुरुभिः— 'उज्झित्वात्मसमाधानं ये ध्यातन्त्यन्यदेवताः ।
भिक्षन्ते भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वाऽपि बुभुक्षितः ॥'

अथ च गायन्...

जो लोग चित्स्वरूप आत्मा पर एकाग्र न रह कर अपने से भिन्न देवताओं का ध्यान करते हैं वे धनवान् होकर भी मानो भीख ही मांगते हैं और भीख मांग कर भी भूखे रहते हैं । और भी ।

३. प्राणन स्वरूपा शक्तिः ४. प्राणो वै गायस्ता ५. श्रुतेश्च ६. पंचमात्रा

भाषा :— ओं

"भगवान चित् सूर्य को नमस्कार हो।"

काशी खण्ड में कहा है :—

ओंकार।— तीन अक्षरों (अ+उ+म्) से मिलकर बने हुए

भूः, भुवः, स्वः।— इन तीन व्याहृतियों को, तथा गायत्री मन्त्र के तीन पादों को

ऋक्, यजु, साम :— तीन वेदों ने दुह कर निकाला ।।

इस अक्षर (ओंकार) और व्याहृतियों (ओंभूः, ओंभुवः, ओंस्वः) सहित इस गायत्री मन्त्र का जप प्रातः और सायं दो सन्ध्याओं पर जो वेदों को जानने वाला ब्राह्मण करे, उसे वेदों (वेदों के नित्य पाठ) का पुण्य प्राप्त होता है। ओं भूर्भुवः स्वः (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओं) यह मन्त्र है। तो पहिले गायत्री[1] शब्द का निर्वचन किया जाता है–गाने वाले को (इस मन्त्र के) अर्थात् विचार करने वाले को "मैं विश्वात्मक हूँ" इस प्रकार का पूर्णाहन्ता का विमर्श करने वाले को जो बचाती है, अर्थात् अहन्ता से भिन्न इदन्ता के सङ्कल्पमय दूसरे सभी देवताओं को (भेदात्मक सूर्य आदि देवों की) उपासना रूपी कलङ्क से जो पालन करती है वह गायत्री है)। जैसे महागुरुओं ने कहा है—जो बोलने वालों अर्थात् प्राणों की रक्षा करती है, तात्पर्य, जो प्राणों को धारण करती है। प्राणों के स्वरूप का यह तात्पर्य है (अर्थात् गायत्री को इस कारण प्राण स्वरूपा कहा गया है) जो सब से पहिले प्राणों के रूप में उतर आती है, वह गायत्री है। क्योंकि कहा गया है—"संवित् (सङ्कोच का अवभास करती हुई) पहिले तो प्राण में परिणत हो गई।"

'गायं' अर्थात् शब्द करने वाले प्राण होते हैं। उनका (संवित्) ने पालन किया। तो उसने 'गाय' नामक प्राणों का त्राण (पालन) किया, तो गायत्री कहलाई। वहां त्राण करती है, यही अर्थ है (गायत्री का)। (जैसे कहा है)—

"अठत्तीस कलाओं वाले, पांच प्राणों पर चढे हुए, (सभी के) मूलकारण रूप, शब्द ब्रह्मात्मक, क्रीडन शील परम शिव को........।"

१. गाय+त्री, "गाय" गाने वाले की "त्री" त्राण रक्षा करती है।

"अकारो ब्रह्म इत्युक्तो उकारो विष्णुरुच्यते।
मकारो रुद्रदैवत्योऽप्यर्धचन्द्रस्तथेश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवो देवः प्रणवः पञ्चदैवतः ।"

तस्य वाचकः प्रणवः इति योगसूत्रेषु च प्रणवस्य ब्रह्मत्वं[1] भगवता पतञ्जलिना प्रतिपादितम् । गीतास्वपि—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम ॥"

भाषा—(प्रणव अर्थात् ओं पांच अक्षरों—अ, उ, म, अर्धचन्द्र और बिन्दु से मिलकर बना है) (इनमें से) अकार का देवता ब्रह्मा है, उकार का देवता विष्णु कहा गया है, मकार का रुद्र देवता है। अर्धचन्द्र ईश्वर है और बिन्दु सदाशिव देवता है। इस प्रकार प्रणव पांच देवताओं से युक्त है। "उस ईश्वर का वाचक अर्थात् नाम प्रणव है" इस प्रकार से भगवान् पतञ्जलि ने योग सूत्रों में सिद्ध किया है। श्री गीता जी में भी कहा गया है :—

"ओं" इस प्रकार के एक ही अक्षर* रूप ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और निरन्तर मेरा (अर्थात् अपने ही सच्चे 'अहं' स्वरूप का स्मरण करते हुए जो पुरुष इस शरीर को छोडते हुए यहां से चला जाता है वह परम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।"

अन्यत्रापि—

"अदृष्ट विग्रहो देवो भावगम्यो मनोमयः ।
तस्योङ्कारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥" इति

एवं विधस्य श्री परमेश्वरस्य समस्तव्याहृतिभिर्विश्वमयत्वमुपदिशति—ओंभूर्भुवः स्वरिति। यावदियं[2] लोकत्रयकल्पना प्रसिद्धा तदोङ्कारः श्री परमेश्वर एव भजतीत्यर्थः। अन्यथैतद्भिन्नस्य लोक त्रयस्य सत्ता प्रकाशौ न स्याताम्—

---

१. ब्रह्मवाचकत्वं (पाठान्तर) *अविनाशी २. यत्तावदियं (पाठान्तर)

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

इति श्रुतेः।

किसी और शास्त्र में भी कहा है—

भाषा—"आत्मरूप देवता का स्वरूप देखने में नहीं आता (अर्थात् वह अन्तःकरणों अथवा बहिष्करणों का विषय नहीं बन सकता) वह केवल भावों के द्वारा (अनुमान से) ही जानने योग्य है और मनोमय है। प्रणव (ओं) उसी चैतन्यरूप आत्मा का दूसरा नाम है और इसी नाम से जब उसे बुलाया जाय (एकाग्र चित्त होकर विमर्श किया जाय) तो वह आत्मदेव प्रसन्न होता है।"

ऐसे स्वरूप वाले परमेश्वर (आत्मा) का विश्वमयभाव सभी व्याहृतियों द्वारा कहा जाता है— 'ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः' इस तरह से। जहां तक यह तीन लोकों की कल्पना प्रसिद्ध है, वहां तक ओंकार रूप परमेश्वर व्यापक है। यह (इन तीन व्याहृतियों का) अर्थ है। यदि यह तीन लोक इस आत्मा से भिन्न होते, तो इनकी सत्ता और इनका प्रकाश हो नहीं होते। क्योंकि

"उसी (प्रकाशमान आत्मा) के भासमान होते हुए सब कुछ उसी के पीछे पीछे भासमान होता रहता है और उसी के प्रकाश से यह सारा वेद्यप्रपञ्च भासता है" ऐसा श्रुति में कहा है।

*विश्वत्तीर्णमुपदिशति—

[1]प्रसिद्धं च स्वप्रकाशत्वेन परप्रकाशसाध्यत्वाभाजात् अहं प्रत्ययस्य सर्व जनेषु सहजसिद्धत्वात्, सर्वैनुभूतं च— 'उतैनं विश्वाभूतानि' इति श्रुतेः। सर्व कारणत्वेन पूर्वप्रसृतं (प्रक्रान्तं) च तत्सर्वव्यापक भर्गः

---

१. तत् शब्द के ये अर्थ होते हैं:– १) प्रसिद्ध, २) अनुभूत, प्रक्रान्त अर्थात् जिसका पहिले उल्लेख आया हो, इन तीनों प्रकारों से उसका व्याख्यान किया गया है।

*विश्वोत्तीर्णत्वम्—

तत्सवितुरित्यादिना प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते तत्सर्वसामान्यं। महासत्तारूपं तदः सर्वनामत्वात्।

संवित्प्रकाशलक्षणं (प्रकाशं) पूर्ण स्वातन्त्र्यस्वभावं, सवितुः सर्वप्रेरकस्य बोधादित्यस्य स्वभावशब्दवाच्यस्य सम्बन्धि धीमहीति सम्बन्धः

भाषा— "तत्सवितुः" इत्यादि पदों से आत्मा के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप का उपदेश करते हैं, वह सविता का तेज तो प्रसिद्ध ही है क्योंकि "अहं" का ज्ञान स्वप्रकाश है और दूसरे किसी के प्रकाश की इसे सिद्ध करने के लिये अपेक्षा नहीं, (सभी प्रमाता अपनी अहन्ता किसी दूसरे के बताए बिना ही जानते हैं) और यह सभी जनों में स्वभाव से हा सिद्ध है। सविता के उस तेज का सभी ने (स्वसंवेदन से) अनुभव किया है। "सभी प्राणियों ने (इसे देखा)" ऐसी वेदों को श्रुति है। सविता का वह तेज सभी जगत का कारण होने से सब से पहिले प्रसार में आया हुआ है (अनादि काल से प्रक्रान्त है अर्थात् चला आता रहा है)

सभी को प्रेरणा करने वाले तथा 'स्वभाव' शब्द का वाच्य (अर्थ) बने हुए उस प्रकाशरूप सूर्य के उस तेज का हम ध्यान करते हैं जो सर्वव्यापक है, जिसका स्वरूप संवित्प्रकाश है, तथा जिसका स्वभाव परिपूर्ण स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार से मन्त्र के शब्दों का सम्बन्ध लगता है।

(अन्वयः)। अत्र यद्यपि सवितुर्भर्ग इति सवितृभर्गयोर्भिन्नता गायत्री मन्त्रे प्रतीयते, तथापि परमार्थचिन्तया भेदो न विद्यत एव। य एव सविता स एव भर्ग इति सवितृभर्गयोरद्वैततैव। सम्बन्धषष्टी तु राहोः शिर इति वत्।

तथा च—सवितुः सर्वभावानां प्रसवितुः सर्वेश्वरस्य च देवस्य

भाषा—इस गायत्री मन्त्र में यद्यपि "सूर्य का तेज" ऐसा कहने से सूर्य और उसके तेज में भिन्नता जैसी प्रतीत होती है, फिर भी परमार्थ विचार से इनमें कोई वास्तविक भेद है ही नहीं। जो ही सूर्य है वही तेज है, इस प्रकार से सूर्य और तेज दोनों एक ही वस्तु हैं। "सवितुः" पद में जो सम्बन्धषष्टी लगी है, वह उसी तरह से है, जिस तरह से "राहु का सिर" ऐसा कहने

में है। (अर्थात् राहु नक्षत्र का स्वरूप तो केवल सिर ही है, तो राहु और उसका सिर यह कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार सूर्य और उसका तेज ये भी अभिन्न ही हैं)

और भी—सवितुः का अर्थ है, जो सभी जड चेतन पदार्थों का उत्पन्न करने वाला है, सब का ईश्वर है। (अर्थात् यह सभी स्थावर जंगम विश्व जिस चित्सूर्य की विभूति है)

जगन्निर्माण–स्थापन–विलापनादिक्रीडा (क्रीडन) शीलस्य—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म–" इति
"सृष्टिसंहारकर्तारं वि (प्र)लयस्थिति कारक[1]म् ।
अनुग्रहकरं देवं (वन्दे) प्रणतार्तिविनाशनम् ॥"

इति वेदतन्त्रोक्तिरत्र प्रमाणम् ।

भाषा—और जो सदैव क्रीडाशील होते हुए जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि (अर्थात् पिधान और अनुग्रह रूपी) पञ्चकृत्यों की क्रीडा स्वभाव से करता रहता है अतः जिसे देव कहा जाता है—

"जिस से ये सभी जडचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसकी सत्ता से स्थित रहते हैं और (फिर संहार की अवस्था में) जिसमें लय होकर विश्रान्ति पाते हैं, वही ब्रह्म (सर्वव्यापक) है।"
तथा

"मैं आश्रित जनों की पीडाओं को नष्ट करने वाले तथा सृष्टिसंहार करने वाले, विलय (पिधान) और स्थिति के कारण बने हुए और अनुग्रह (कृत्य) करने वाले (आत्म देव) को नमस्कार करता हूँ।" इस प्रकार को वेदों और तन्त्रों की उक्तियां इस (व्याख्यान) में प्रमाण हैं।

---

१. कारणम्

तद्भर्गः स्वरूपपरमार्थं तेजः। भ–इति भासयतीमाल्लोकान्, र–इति रञ्जयतीमाः प्रजाः, ग–इति गच्छन्त्यमुष्मिन्नागच्छन्त्यस्मात्, तस्माद्भरगत्वाद्भर्ग इति श्रुतिभिर्निरुक्तम्। धीमहि ध्यायामः, भावयामः, स्वत्वेन परामृशामः इति यावत्। एतादृशस्य सर्वव्यापकस्य नित्यस्यापरिच्छिन्नस्वभावस्याभेदविमर्शनमेव ध्यानम्। न त्वव्यापक-विनाशि-परिच्छिन्न-पञ्चवक्त्रादिकल्पनम्। उक्तं हि विज्ञानभैरवे—

भाषा—(उस सविता के) उस तेज का अर्थात् उसके स्वरूप के परमार्थ रूपी तेज का (हम ध्यान करते है), (भर्ग का अर्थ) 'भ' अर्थात् जो इन सभो लोकों को प्रकाशित करता है (अर्थात् प्रकट करता है, चेतना के प्रकाश से ही तो सब कुछ प्रकट होता है) 'र' अर्थात् जो इन सभी प्रजाओं को प्रसन्न रखता है, 'ग', अर्थात् जिसमें सभी पदार्थ चले जाते हैं—लीन हो जाते हैं या जिसमें से ये निकलते हैं। इस प्रकार 'भ, र, ग' अक्षरों की श्रुति से ही जिस भर्ग का निर्वचन किया गया है, उसीका 'धीमहि' हम ध्यान करते हैं। अर्थात् उसके साथ अभेद की भावना का अभ्यास करते हैं, और उसीको अपना सच्चा 'अहं' मानकर उसका विमर्शन करते हैं। सब में व्यापक रहने वाले, अविनाशी और इस प्रकार के अपरिमित स्वभाव वाले आत्मा के साथ अभेद (एकता) का विमर्श करना ही उसका ध्यान करना है। किसी अव्यापक, नाशवान और परिमित, पांच मुखों वाले रुद्र आदि का विकल्पमय ध्यान पारमार्थिक ध्यान नहीं है।

विज्ञानभैरव में कहा भी गया है—

"ध्यानं या निश्चलाबुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य[1] मुखहस्तादि कल्पना॥"

इति। श्री वसिष्ठोऽपि—

"सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्याविस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते।"

---

१. शरीरादि

इति । स्थूलध्यानादिकं तु पशुप्रमातृविषयमेव तत्र तत्र दर्शितम् तस्य सकलकल्पनायाः ससारत्वात् ।

भाषा—"अटल, आकार रहित और आश्रय (विषय) रहित बुद्धि को ही ध्यान कहते हैं, नकि किसी (देवता इत्यादि के) शरीर के मुख, हाथ आदि अंगों की विकल्पमयी कल्पना को।"

वसिष्ट महर्षि भी (योगवासिष्ट में) कहते हैं :—

"मैं केवल चित्स्वरूप वही (अकृत्रिम अहं स्वरूप) हूँ" ऐसे (निर्विकल्प) विमर्श का ध्यान कहते हैं और ऐसे ध्यान की निरन्तर स्मृति को ही समाधि के नाम से पुकारा जाता है।

स्थूल अर्थात् साकार ध्यान आदि तो पशुप्रमाता (जीव प्रमाता) के ही विषय में उन उन शास्त्रों में बताया गया है, क्योंकि यह साकार ध्यान ऐसा है कि समस्त (अथवा सकल नामक जीवों की) कल्पनाओं के करने में जो आयास होता है वही इस (ध्यान) का सार है। (अर्थात् स्थूल ध्यान कष्टप्रद है, अतः निचले अधिकारियों के ही लिए कहा गया है।)

तदुक्तं विज्ञान भैरवे—

"यत्किञ्चित्सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ।
तदसारतया देवि ! विज्ञेयमिन्द्रजालवत् ॥
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगर[1]भ्रमम् ।
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ॥
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिह[2]तात्मनाम् ।"

इति । भैरवस्तोतस्यपि—

ध्यानं पूजादिकं जप्यं होमादिस्त्याग एव च ।
आह्वान करणं स्थानमारुरुक्षुषु दर्शयेत् ॥ इति

---

१. नगरं यथा २. निहितात्मनाम् ।

भाषा—विज्ञान भैरव में कहा गया है—

"हे देवी ! भैरवरूप पूर्णपरमेश्वर का जो कुछ भी सकल अर्थात् कलनामय रूप बताया गया है, वह असार होने के कारण इन्द्रजाल (मदारी के खेल) की तरह मिथ्या माना जाना चाहिए। वह तो माया सदृश और स्वप्नसदृश, अथवा गन्धर्वों के नगर की भांति भ्रमरूप है, वह तो भ्रम में रहती हुई बुद्धि वाले, क्रियाओं के आडम्बरों में लगे हुए, तथा बिकल्पों के द्वारा दबाए हुए स्वरूप वाले पुरुषों के ध्यान के लिए बताया गया है।"

भैरवस्रोत में भी कहा गया है :—

"ध्यान, पूजा आदि, जप किये जाने वाला मन्त्र इत्यादि, होम, (हवन) (देवता का) आवाहन करना, तथा न्यास करना अथवा आसन देना यह सभी बातें (गुरु को) योगारूढ बनने के इच्छुक शिष्यों को बतानी चाहिएं।"

गीतासु च—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।"

श्री भागवतेऽपि—

"यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्वरूपं
क्रियावसाने सततं स्मरेत॥" इति

भाषा—श्री गीता जी में भी कहा है :—

'ऊपर ऊपर की भूमिकाओं पर आरोहण करने की इच्छा वाले मुनि को उस आरोहण का साधन क्रिया योग बताया जाता है और योगारूढ होने पर उसी मुनि को (क्रिया और ज्ञान का) शान्त होना ही साधन बताया गया है।'

श्रीमद्भागवत में भी लिखा है :—

'जब तक उस असीम और अपार तथा जगत के ईश्वर (पंच-कृत्य करने वाले) और सबके द्रष्टा (अर्थात् देखने वाले प्रमाता

रूप परमेश्वर) के प्रति तुम्हें भक्तियोग की प्राप्ति नहीं होती, त[illegible] तक तुम्हें पूजा आदि क्रियाएं पूरी तरह से करके उस परम पु[illegible] के स्थूल (चतुर्भुज आदि) रूप का ही लगातार ध्यान करना चाहिए।

कपिल[1]मुनिरपि—

'अर्चायामर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थिताम् ।।' इति

श्री वसिष्टोऽपि—

'यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मज्ञतयास्थितः ।
तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव ।।' इति

किं भूतं भर्गः ? वरेण्यं-जन्मसंसारभीरुभिर्ध्यानफलमुक्तिरूपं ध्ये[illegible] यतया प्राप्यतया च वरणार्हमभिलषणीयमित्यर्थः ।

कपिलमुनि भी कहते हैं :—

"जब तक जीव (पशु प्रमाता) अपने ही हृदय में सब (स्थावर जंगम) में व्यापक मुझ परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, तब तक उसे चाहिए कि अपने स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए ही मुझ ईश्वर का बाह्य पूजा द्वारा ही पूजन करे।"

श्री वसिष्टमहर्षि भी कहते हैं :—

'हे जीव, जब तक तुम आत्मज्ञान की अप्राप्ति (आणव मल) के कारण अज्ञान (मोह) में ठहरे हो तब तक चतुर्भुज आदि आकार की पूजा में लगे रहो।"

वह सूर्य का तेज (भर्ग) कैसा है ? वरेण्य है (अर्थात् वरने योग्य है) जन्म मरण रूप संसार से डरे हुए पुरुषों को ध्यान का फल मुक्तिरूप है तथा ध्यान करने और प्राप्त करने योग्य होने के कारण वरने योग्य है, अर्थात् सबके लिए अभिलाषा करने योग्य है (चाहने के योग्य है) यह इसका अर्थ है।

---

१. कपिलदेवोऽपि

अभिलषणीयत्वमेव मनसि निधाय भट्टनारायणः—

'भगवन् भव भावत्कं भावं भावयितुं रुचिः
पुनर्भवभयोच्छेददक्षा कस्मै न रोचते ।'

बाह्य जड प्रकाशमयादित्याशङ्कां शिथिलयश्चेतनत्वमुपदिशति-धियो योनः प्रचोदयात् इति । यः पूर्णाहन्तामयसंवित्स्वभावो विशुद्ध-चैतन्यमात्रमूर्तिरात्मनोऽस्माकं ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषां प्रमाणतृ धियो बाह्याभ्यन्तराणि करणानि प्रचोदयात्—प्रेरयति, जडान्यपि तत्त-द्वेद्यजातविषयज्ञान संकल्पाध्यवसायकारयितृत्वेन चेतनी भावमापाद-यति । तदुक्तं स्पन्दे—

भाषा—चाहे जाने योग्य भाव को ही मन में रख कर भट्ट नारायण ने कहा है :—"हे भवनशील शङ्कर ! तुम्हारे चिदानन्दघन स्वरूप को अपना स्वरूप मानकर विमर्श करने को रुचि जो बार बार जन्ममरण के भय का नाश करने में समर्थ है किस बुद्धिमान जन को नहीं भाती ? अर्थात् सभी बुद्धिमान लोग इसे चाहते हैं ।"

"धियो यो नः प्रचोदयात्" इन पदों के द्वारा बाहर के जड प्रकाश वाले सूर्य की शङ्का को ढीला करते हुए चेतन भाव का उपदेश किया जाता है । "यः" जो स्वभाव से ही परिपूर्ण अहन्ता रूपो संवित् है और केवल शुद्ध चैतन्य ही जिसका शरीर है तथा जो ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि तक के हम सभी प्रमाताओं की 'धियः' बुद्धियों को अर्थात् अन्तःकरणों तथा बहिष्करणों को "प्रचोदयात्" प्रेरणा करता है, उन जड पदार्थों को भी अपने अपने जानने योग्य विषयों के ज्ञान, संकल्प और निश्चय के कराने वाला बनाता हुआ उन (अन्तः करणों तथा बहिष्करणों) को भी चेतन बना देता है । स्पन्दशास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है—

'यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृतिस्थितिसहृतीः ।।
लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतःस्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ।।'

इति। अन्यत्रापि

"य इह वास्थिर चरनिकराणां निजनिकेतनानां मन इन्द्रिया-सुगणनात्मनः स्वय[1]मन्तर्यामी प्रचोदयति" इति

भाषा—'जिस स्पन्दरूप चैतन्य से यह सारा करणों का समूह जो जड होता हुआ भी अपने आन्तरीय करणेश्वरियों के समूह को साथ लेकर वेद्यविषयों में प्रवृति, स्थिति और संहार को चेतनवत प्राप्त करता रहता है, वही स्पन्द तत्त्व (आत्मा) बडे यत्न से अभ्यास करके परोक्षा करके जानने योग्य है, क्योंकि उसकी यह स्वतन्त्रता सर्वत्र सभी जाग्रत आदि अवस्थाओं में उसका स्वभाव बनी हुई है।' किसी और शास्त्र में भी लिखा है :—

'जो इस संसार में भी अपने निवासस्थान बने हुए स्थावर जंगम प्राणियों के अथवा (दूसरी दृष्टि से) अपने ही मनों, इन्द्रियों और प्राण वर्गों को स्वयं अन्तर्यामी बनकर प्रेरित करता रहता है।'

ये सदैवैतत्परिशीलयन्ति ते स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता एव। ये तु न तथा, ते शूद्रप्रायाः कर्म[2]स्वनधिकृता इति शिवम्।

भाषा—जो पुरुष निरन्तर (आत्म तत्त्व की भावना) का अभ्यास करते हैं, वे समस्तविश्व को अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा का विकास ही समझते हुए जीवन्मुक्त हो हैं (शरीर का धारण करते हुए भी बन्धन से मुक्त रहते हैं), (इसके विपरीत) जो इसका अभ्यास नहीं करते, वे शूद्रों के समान हैं और वैदिक क्रियाओं में उन्हें कोई अधिकार नहीं हैं। इस प्रकार सब कुछ शिवरूप ही है।

---

१. स्वयमात्मान्तर्यामी
२. सर्वकर्मस्वनधिकृता

ध्यानेनापि वर्णयिष्यामः, 'मुक्ताविद्रुमे'ति[1]।'

यद्यपि सर्वाणिभूतानि नोरूपाण्येव तथापि शून्येन[2] (एव) शून्यानि रागवंति कृतानि निस्सारत्वादिन्द्रचापवत्। यथा आकाशो मुक्तारागो निर्मलत्वात्, विद्रुमवर्ण (राग) स्तैजसो रक्तबर्णत्वात्, हेमरागः पार्थिवः

भाषा—गायत्री के ध्यान श्लोक के अनुसार भी इसका वर्णन करेंगे, वह श्लोक 'मुक्ताविद्रुम' इत्यादि है।

यद्यपि सारे पदार्थ (वेद्यराशि) परमार्थतया रूपरहित ही हैं, तो भी इन्द्रधनुष की तरह निःसार होने के कारण शून्य होते हुए शून्य के रग में रंगे हुए हैं। जैसे आकाशमुख निर्मल होने के कारण मोतिया रंग का है, लाल होने के कारण आग्नेय मुख मूंगे के रंग

पोतवर्णत्वात्, नीलरागो वायवीयः कृष्णवर्णत्वात्, धवलरागः सालिलः श्वेतत्वात्, तान्येव मुखानि भूतवर्णकाणि, यद्यप्यमीषां भूतानामक्रमेणैव रागो वर्णितस्तथापि दिनरात्रिविभागेन क्रमो लक्ष्यत एव, यथा प्रभातरागो मुक्तासदृशः, तदनुरक्तवर्णो विद्रुमसदृशः, "उदयकाले खीरक्तः" इति प्रसिद्धत्वात्। ततो हेमसदृशो वर्णः सूर्यप्रकाशमयः, ततोऽन्धकाराभिधो नीलवर्णः अतः परं धवलतासदृशश्चन्द्रादिज्योतिष्प्रकाशः शुक्लत्वात्।

---

१. "मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै–
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकरां शूलं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥

मैं उस गायत्री का भजन करता हूं (एकाग्र मन से चिन्तन) जो तीन नेत्रों वाले तथा (१) मोतिया (२) लाल (३) पीले (४) नीले और (५) श्वेत कान्ति वाले पांच मुखों से युक्त है, जिसके रत्ननिर्मित मुकुट में चन्द्रमा रत्न जडा हुआ है, जो सभी तत्त्वों रूपी अक्षरों से बनी हुई है और जो हाथों में वरद, अभय, अंकुश, त्रिशूल, कपाल (खोपडी), रस्सी, शङ्ख, चक्र और दो कमल धारण किए हुए है।

२. शून्येनैव

भाषा—वाला है, पीले रंग का होने के कारण पार्थिव मुख सोने के रंग वाला (सुनहरा) है, काले रंग का होने के कारण वायवीयमुख काले रंग वाला है, श्वेत होने के कारण जलीय मुख शुभ्रवर्ण वाला है, यही (गायत्री के) पांच मुख पांचमहाभूतों के रंग वाले हैं। इन पांचमहाभूतों के रंग यद्यपि उचित क्रम के विना ही बताए गए हैं, तो भी दिन और रात के विभाग के अनुसार इनमें क्रम भी दिखाई देता है, वह इस प्रकार है—प्रभात काल का रंग पहले तो मोती के समान होता है, उसके पश्चात् मूंगे के समान लाल रंग होता है, जैसे प्रसिद्ध उक्ति है कि "उदयकाल में सूर्य लाल रंग का होता है।" उसके अनन्तर के सूर्य प्रकाश का सोने जैसा रंग होता है, फिर अन्धकार नाम वाला काला रंग होता है, उसके पश्चात् चन्द्रमा इत्यादि तारों का प्रकाश श्वेतवर्ण होने के कारण शुभ्र जैसा होता है।

एतान्येवमुखानि ध्यातॄणां ध्येयानि कृतानि। ध्यानं विनैकत्वं न सिद्धयति इत्यर्थः। "त्रीक्षणै'रिति—त्रीणीक्षणानि नेत्राणि प्रकाशमानत्वान्मनोबुद्धयहङ्काराभिधानि, तैर्विना जगत्सत्ता परा (न) भवेत्। एतैरेव त्रिगुणात्मकं दृश्यजातं दृश्यते, एतेष्वेव सर्वान्तर्भावात्। यथा मनो रजोगुणः, बुद्धिः सत्त्वगुणः, अहङ्कारस्तमोगुणः, मनो ब्रह्मा, बुद्धिर्विष्णुर् अहङ्कारो रुद्रः, मनः चन्द्रः, बुद्धिस्सूर्यः, अहङ्कारोऽग्निरित्याद्यन्यदपि वस्तुजात यद्ब्रूयात् तदप्येतेष्वेव बोध्यम्। 'इन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां[1]' इन्दुनाऽपानेन निबद्धाः पूरि[2]तवायव एव, रत्नानि वायूनामपि ज्योतिर्मयत्वात्

भाषा—यह ही मुख ध्याता लोगों के ध्येय बनाए गए हैं, इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान किए विना ध्येय के साथ एकता प्राप्त नहीं हो सकती। "त्रीक्षणैः" का अर्थ है तीन नेत्रों वाले। प्रकाशमान होने के कारण मन, बुद्धि और अहङ्कार (तीन अन्तः करण ही तीन नेत्र हैं) क्योंकि इनके विना जगत् की सत्ता ही नहीं ठहर सकती, इन्ही के द्वारा तीन गुणों का बना हुआ दृश्य समूह (वेद्यवर्ग) दिखाई देता है, क्योंकि सभी कुछ इन्हीं तीन अन्तःकरणों में

१. पूरितावयवाः, पूरिताः वायवः २. मुकुटामिति

अन्तर्भूत है। जैसे मन रजोगुण है, बुद्धि सत्त्वगुण है, अहङ्कार तमोगुण है। मन ब्रह्मा है, बुद्धि बिष्णु है और अहङ्कार रुद्र है। मन चन्द्रमा है, बुद्धि सूर्य है और अहङ्कार अग्नि है इत्यादि। और और भी जो कुछ पदार्थसमूह हो सकता है उस सब को इन्ही तीन में समझ लेना चाहिए। 'इन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां'—चन्द्रमारूपी अपान के द्वारा जो बान्धे हुए हैं अर्थात् जिनके अङ्ग प्रत्यङ्ग अपान के द्वारा ही भरे हुए होते हैं वे पांच प्राण ही रत्न हैं।

रत्नत्वम्, चेष्टैव प्रकाशः। अपान पूरणेनैव सर्वप्राणप्रादुर्भावः। तैः सहितानि मुकुटानि शिरोभागः,[1] तद्वशाद्भूतान्यपि प्रकाशन्त इति भावः। 'तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम्' इति चतुर्विंशति तत्त्वान्येव चतुर्विंशत्यक्षराणि आत्मा स्वरूप यस्यास्तां गायत्रीमिति। गाया[2]नि वचनानि त्रायते सद्भा[3]वयति सायतः परास्वभावा देवी वैखरी, सावित्री सरस्वत्योरस्यामेवान्तर्भावः। भुजश्छलेनेन्द्रियाण्याह, भुजैर्द्विविधैर्वामैर्दक्षिणैश्च। तत्र श्रोत्र-त्वक-चक्षू-रसना-घ्राणानि ज्ञानेन्द्रियानि पञ्चदक्षिणबाहवः

भाषा—क्योंकि प्रकाशमान होने के कारण वायुओं को भी रत्न माना जा सकता है, चेष्टा ही उनका (रत्नों का) प्रकाश है, अपान के भरे जाने से ही सभी प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) प्रकट होते हैं। इन प्राणों रूप रत्नों से युक्त गायत्री का मुकुट अर्थात् शिरोभाग है, इन प्राणों रूपी रत्नों के प्रभाव से महाभूत भी प्रकाशमान हो जाते हैं, यह तात्पर्य है। 'तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम्' चौबीस तत्त्वरूपी चौबीस वर्ण ही जिस गायत्री मन्त्र के स्वरूप हैं, ऐसी गायत्री को। वाणियों की जो रक्षा करती है अर्थात् उनको सद्भाव में लाती है, क्योंकि परावाणी जिसका पारमार्थिक स्वभाव है वह वैखरी ही वाणियों का कारण है, सावित्री, सरस्वती (पश्यन्ती, मध्यमा) इसी परा में अन्तर्भूत हैं। गायत्री की दस भुजाओं के बहाने से दस इन्द्रियां बताई गई हैं, वह गायत्री दो प्रकार की भुजाओं से युक्त है—बायां और दायों इन (दस) में से कान,

---

१. शिरोभागाः २. गायनानि ३. उद्भावयति

सर्वकार्य कारणत्वात्, वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि पंचवाम-बाहवः । तदनुकार्य कारणत्वात् तेषां, तन्मात्रान्येव शस्त्राण्याह, यद्यप्य-क्रमेणैव कथितं, तथापि क्रमेण कथयिष्यामः तद्यथा (१) आकाशमुखस्य दक्षिणहस्ते श्रोत्रे शङ्खः शब्द विषयो निर्मलत्वात् शब्द प्रयोजनत्वाच्च, वामे वाचि वचन पिषयो[1]अभयं(घुमयः)वचन रूपत्वादेव,(२) वायुमुखस्य-दक्षिण हस्ते त्वचि शम्भः स्पर्शविषयः, सर्वव्यापकत्वात् स्पर्शगुणत्वाच्च,

भाषा—त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नाक पांच ज्ञानेद्रियां पांच दाहिने बाज़ू हैं। सब क्रियाओं के करने के साधन होने के कारण वाणी, हाथ, पाओं, गुदा और जननेन्द्रिय रूपी पांच कर्मेन्द्रियां पांच वाएं बाज़ू हैं, इसके अनन्तर इन ज्ञानेन्द्रियों के कार्य अर्थात् व्यापार होने के कारण पांच तन्मात्र ही शस्त्रों के रूप में बताए जाते हैं। यद्यपि वे अक्रम ही बताए गए हैं तथापि इन्हें क्रम के अनुसार भी वर्णन करेंगे, वह ऐसे हैं— (१) आकाशमय मुख के दाहिने हाथ में अर्थात् श्रोत्र (कान) में शंख आयुध है जिसका विषय शब्द तन्मात्र है। क्योंकि शंख (आकाशवत्) निर्मल है और उसका प्रयोजन शब्द करना भी है। बाएं हाथ अर्थात् वाक् इन्द्रिय में वचन रूप होने के कारण शब्दमय अभय आयुध है, अभय मुद्रा से अभय की सूचना अभिव्यक्त होती है जो वचन रूप है (२) वायुमय मुख के दाहिने त्वचा रूप हाथ में स्पर्श विषय वाला शूल आयुध है, क्योंकि यह सर्वव्यापक है (त्वचा सर्वशरीरव्यापिनी होती है, शूल भी घुमाए जाने पर व्यापक जैसा बना करता है) और

वाम हस्ते पाण्योर्गुण। रज्जुरादानविषयः, सर्वग्रहण (बिषय) शक्तित्वात् । (३) तेजो मुखस्य दक्षिण हस्ते चक्षुष्यङ्कुशो रूप विषयः सर्वप्रोतत्वात्, वाम हस्ते[2]पादे चक्रं विहरणविषयः यत्र तत्र गन्तुं विषय[3]त्वात् । (४) जलमुखस्य दक्षिणहस्ते रसनायां कपालःस्वादविषयः, श्वेतत्वाद्भ्राजन-त्वाच्च, वामे बाहावुपस्थे वरदः[4] आनन्दविषयः सर्वसुखोत्पत्तिमत्वात् (५) पृथिवी मुखस्य घ्राणपाय्वोर्दक्षिण वामबाह्वोरविन्दयुगलम् शस्त्र-

१. अभयं वचन विशेषः २. वाम हस्ते कर्मेन्द्रिये पादे ३. शक्तत्वात् ४. वरः

भाषा—स्पर्शतन्मात्र (अर्थात् दूसरों को छूना) इसका विषय है। बायें हाथ अर्थात् हस्त इन्द्रिय में पकडने के विषय वाली रस्सी आयुध है क्योंकि हाथ भी सब कुछ पकडने की शक्ति रखता है। (३) तीसरे अग्निमय मुख के दायें हाथ रूपी नेत्र में अंकुश है जिसका विषय रूप तन्मात्र है, क्योंकि यह सभी में ओत प्रोत है। बायें हाथ अर्थात् पाद इन्द्रिय में चक्र आयुध है जिसका विषय घूमना अर्थात् चलना फिरना है क्योंकि इसका विषय जहां तहां जाना है। (४) चौथे जलमय मुख़ के दायें हाथ रूपी रसना (जिह्वा) में कपाल आयुध है, जिसका विषय स्वाद (रस तन्मात्र) है, श्वेत होने के कारण और पात्र (बर्तन) होने के कारण। बायें हाथ में अर्थात् आनन्द विषय वाले उपस्थ इन्द्रिय में वरद मुद्रा है जो सब प्रकार के सुखों की उत्पति का कारण होते हुए आनन्द विषय वाली है। (५) पांचवे पृथिवीमय मुख के दायें और बायें हाथों में जो नासिका और पायु इन्द्रियां हैं दो कमल रूप आयुध हैं क़्योंकि ये गन्ध-

द्वयं गन्धवत्त्वात्। एतादृशीं परां विद्यां भजे एकत्वेन भजामीत्यर्थः। तस्मादेतत्सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं तद्गायत्र्येव। य एतां विद्यां निश्चिनोति शूद्रजातोऽपि ब्राह्मणः, इमां विद्यामावेद्वान् (अविदित्वा) ब्राह्मणजातोऽपि अब्राह्मणः। यतः श्रुतिराह—"ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति।" स्मृतिरपि "ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः" इति।

कलौ कैवल्य स्वातन्त्र्यचित्रवैचित्र्यरूपिणी।
गायत्र्यद्वय मार्गेण केनचित्प्रकटीकृता॥

इति श्री गायत्रीनिर्णयः समाप्तः।

भाषा—तन्मात्रमय हैं। ऐसी परा (उत्कृष्ट) विद्या का मैं अद्वैत भाव से भजन (विमर्शन) करता हूँ। इस कारण यह सभी जगत् जो बना हुआ है अथवा बनने वाला है वह सब गायत्री ही है। जिसको इस (परा) विद्या पर निश्चय हो जाए वह जन्म से शूद्र होकर भी ब्राह्मण ही है और इस विद्या को न जानने वाला जन्म से ब्राह्मण होकर भी अब्राह्मण ही है (अर्थात् वह ब्राह्मण नहीं है) क्योंकि वेद श्रुति में बताया है कि ब्रह्म तत्त्व का जानने वाला ब्रह्म-

स्वरूप ही होता है। स्मृति भी कहती है—ब्रह्म का जानने वाला ही ब्राह्मण होता है।

किसी (भक्तजन) ने उस गायत्री का निर्णय अद्वैत मार्ग के अनुसार किया (त्रिकमतानुसार) जो कलिकाल में (भी) कैवल्य और स्वातन्त्र्यरूपी अत्यन्त विचित्र रूपों को धारण करती है (अर्थात् उपासकों को कैवल्य और स्वातन्त्र्य नामक मुक्ति दशाओं को देने वाली है)

इस प्रकार श्री गायत्री का निर्णय समाप्त हुआ।



ओं

अथ ब्रह्मसूत्रविधिः

त्रिवृतं ब्रह्मणः सूत्रं षण्णवतिसमुद्भवैः।
तन्तुभिः साध्यते मूलपर्वभिश्चतुरङ्गुलैः॥
अत्राभिसन्धिरस्माकं न किंचिद्भासते हृदि।
किमर्थमेतत्क्रियते गतानुगतिकैर्द्विजैः॥
शिष्यं पृच्छन्तमित्येवं प्राह कारुणिको गुरुः।
गायत्री प्रकृतिर्ज्ञेया गुणत्रयमयी परा॥
द्वात्रिंशत्संख्ययायुक्ता वर्णास्तत्सादिनामकाः।
स्वरूपमस्या गायत्र्या मन्त्रराजस्य चोत्तमम्॥

भाषा—अब ब्रह्म सूत्र की विधि बताई जाती है

ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) चार अंगुल मूल परिमाण के त्रिगुने छियानवे (९६) धागों से बनाया जाता है। इस विषय में हमारी यह शङ्का है कि "हमारी समझ में कुछ भी नहीं आता कि द्विज लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) प्राचीन परम्परा के अनुसार ऐसा क्यों करते हैं?" शिष्य के इस तरह प्रश्न पूछने पर उसके दयावान गुरु ने इस प्रकार उत्तर दिया, गायत्री को परा प्रकृति समझना चाहिए जो त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमोमयी) है। (गायत्री मन्त्र के) तत्सवितुः इत्यादि अक्षरों की संख्या बत्तीस है। यह बत्तीस अक्षर ही गायत्री देवी और श्रेष्टमन्त्र (अर्थात् गायत्री मन्त्र) का श्रेष्ट स्वरूप हैं।

एकत्वं सूचितं शास्त्रे गायत्रीमन्त्रराजयोः।
कृतं समरसात्मत्वं यदस्ति प्रथितं ध्रुवम्॥
द्वात्रिंशदप्यक्षराणि त्रिसंख्या गुणनेन च।
जायन्ते षण्णवत्या तु संख्यया तन्तु पूरणात्॥
वर्णाद्वात्रिंश संख्याका गायत्री देहरूपिणः।
त्रिगुणी करणं चैव किर्थम सूचितं त्वया॥
न्यूनाधिकत्वं किं न स्याद्गुणनैरिति चेन्न हि।
शक्तिरेकापि सा देवी गायत्री शिवरूपिणी॥

गुणत्रयमयी जाता प्रकृत्यण्डस्वरूपिणी ।
इच्छा ज्ञान क्रियारूप त्रित्वेनैव च संस्थिता ।।
स्वतन्त्रा परमेशानी देवी शक्त्यण्डरूपिणी ।

भाषा—शास्त्रों में गायत्री और गायत्रीमन्त्र (जो सभी मन्त्रों में चमकता है) की एकता (अभेद) सूचित की गई है, और इनकी सिद्ध की हुई समरसता (एकाकारता) अटलतया प्रसिद्ध है। बत्तीस अक्षरों की संख्या को तीन की संख्या से गुणा करने से तन्तुओं की छियानवे की संख्या पूरी हो जाती है। गायत्री के शरीर रूपी मन्त्र के अक्षर तो संख्या में बत्तीस ही हैं तो उसे तीन गुणा करना आपने क्यों बताया। क्या इसमें गुणन करने से कमी या अधिकता नहीं हो सकती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं किया जा सकता। वह गायत्री जो शक्तिरूपिणी है और शिव से अभिन्न, एक रूप ही है, वही प्रकृति नामक अणु का रूप धारण करती हुई त्रिगुणमयी हो गई और वही स्वतन्त्र परमेश्वरी शक्ति अण्ड के रूप में इच्छा-ज्ञान-क्रियामय त्रिरूप से ठहरी है।

विद्यारागकलाभिख्य त्रैरूप्येण च सा स्थिता ।
मायाण्डे शुद्धमार्गेच महामायानुवर्तिनी ।।
सर्वत्र शुद्धाशुद्धाध्वसृष्टौ त्रैरूप्यमेव हि ।
परापराया गायत्र्याः त्रिगुणीकरणं ततः ।।
गुणत्रयमयं सूत्रं प्रोतं ब्रह्मणि यत्परे ।
ब्रह्मग्रन्थियुतं तस्माद्धृदये धारयेद्द्विजः ।।
गुणत्रययुतं विश्वं ब्रह्मणि ग्रथितं परम् ।
हृदये धारयेत्तत्त्वं सदा सर्वत्रसंस्थितम् ।।
इत्थं मनसि कृत्वैव शिष्यकण्ठेऽर्पयाम्यहम् ।
यज्ञोपवीतं परममित्युक्त्वा ब्रह्मसूत्रकम् ।।

इति संक्षेपेण ब्रह्मसूत्रनिर्णयः समाप्तः ।

भाषा—(फिर) माया नामक अण्ड में विद्या, राग और कला नामक तीन रूपों में भी ठहरी हुई है। शुद्ध मार्ग की सृष्टि में महामाया का अनुसरण करती हुई होती है, परापरा देवी गायत्री

की त्रिरूपता ही शुद्ध, शुद्धाशुद्ध तथा अशुद्ध मार्गों में सर्वत्र होती है। इसी कारण (सूत्र को) तीन गुना करना बताया गया है, क्योंकि यह तीन लड़ियों वाला सूत्र ब्रह्म में परोया हुआ (अर्थात् उस से अभिन्न) है और यह ब्रह्मग्रंथि सहित है, इसलिए द्विज को सदा इसे हृदय पर धारण करना चाहिए। विश्व भी त्रिगुणात्मक है और ब्रह्म में ही खूब गूंथा हुआ है, हर समय में और हर अवस्था में स्थिरतया ठहरे हुए इस परमार्थ को हृदय में धारण करते रहना चाहिए। इस बात का मन में निश्चय करके मैं (गुरु) शिष्य के गले में ब्रह्मसूत्र को 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहना देता हूँ।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र का संक्षेप से निर्णय समाप्त हुआ।



ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्, ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम् ।

भवति अस्माद्भूः । भावयति सर्वं भुवः । तापयति सन्तापयति स्वः, स्वृ शब्दोपतापयोः । महः तेजोमयः । जनयति इति जनः । तापयतीति तपः । त्रिकालाबाध्यं सत्यम् । तत्तस्य सवितुश्चित्सूर्यस्य भर्गस्तेजो धीमहि ध्यायामः । सवितुः कथम्भूतस्य ? देवस्य द्योतमानस्य सूयत इति सविता सर्वानुत्पादयतीति ।

भाषा—जिस से सब जगत उत्पन्न होता है वह भूः[1] है । भुवः[2] का अर्थ जो सब को सत्ता देता है । स्वः का अथ जो सब को प्रज्वलित करता है या संतप्त करता है (संहार द्वारा) स्वृ धातु शब्द और संताप के अर्थ में प्रयुक्त होता है । महः का अर्थ (तेज वाला) तेज का बना हुआ, जनः का अर्थ जो सब को उत्पन्न करता है । तपः का अर्थ जो सब को प्रज्वलित बनाता है । सत्यम का अर्थ जो तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) में अबाध्य है, (तत्) उसी (सवितुः) चित्सूर्य के (भर्गः) तेज का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं । कैसा है वह चित्सूर्य ? (देवस्य) जो प्रकाशमान है । सविता का अर्थ—जन्म देने वाला, जो सब को उत्पन्न करता है,

षूङ प्राणिगर्भ विमोचने । भर्गः कथम्भूतं-वरेण्यं वरणीयं प्रार्थनीयम् । यद्वा तद्भर्गो धीमहि, कस्य ? सवितुरिति संबन्धः, यद्भर्गः धियो बुद्धीः नः अस्माकं प्रचोदयात् प्रेरयत्विति वाक्यार्थः । आपः-आप्नोति सर्वं, व्याप्नोतीति आपः । ज्योतिः-स्वरूपम् । रसः-शब्दः । अमृतं-जन्ममरणादि शून्यम् । ब्रह्म-बृंहति सर्वानिति, बृहि वृद्धौ । ब्रह्मापो भवति । अनयोरेकार्थत्वादेकैक संबन्धः । भूरिति ज्योतिः भवत्यस्माद्भूः । रसः शब्दः भुवः भावयतीति । यद्वा रस एव भुवः भावयतीति । यद्वा रस एव

भाषा—(चिद्भानु) । षूङ धातु का अर्थ प्राणी को जन्म देना होता है (ऐसे सूर्य का) (भर्गः) तेज कैसा है ? (वरेण्यं) प्रार्थना करने योग्य है । अथवा उस तेज का हम ध्यान करते हैं । किस के (तेज

१. सृष्टि २. स्थिति

का ?) (सवितुः) चित्सूर्य के इस प्रकार पदों का सम्बन्ध है। जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करे। यह वाक्य का अर्थ है। आपः का अर्थ व्याप्त करता है, सब में व्यापक है। ज्योतिः का अर्थ स्वरूप। रसः का अर्थ शब्द। अमृतं का अर्थ जो जन्म-मरण इत्यादि विकारों से रहित है। (अर्थात् वह चित्सूर्य सब में व्यापक, सब का स्वरूप, अहं शब्द रूप तथा जन्म-मरण रहित है) ब्रह्म का अर्थ जो सब को बढ़ाता है, बृहि धातु का अर्थ बढ़ाना होता है। ब्रह्म ही व्यापक बनता है, ब्रह्म और आपः का एक ही अर्थ है, इन शब्दों में एक एक का एक एक के साथ सम्बन्ध है, आपो, ब्रह्म, ज्योतिः भूः, रसः, भुवः, अमृतं स्वः (इन दो दो का एक ही अर्थ है)। भूः का अर्थ ज्योति, जिस से कुछ उत्पन्न हो वह भूः अर्थात् वह भूः अर्थात् भूमि है। रसः का अर्थ शब्द है। भुवः जो सब को सत्ता दे। अथवा रसः

रसः। यद्वद्वृक्षपुष्पादिषु व्याप्य भावयतीति तद्वत्। अमृतं स्वः। तदुक्तं–

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदमिति ॥'

एवमेव प्रणवस्य अकार-उकार-मकार-संज्ञकस्य भूर्भुवस्स्वरिति योगः।

भाषा—का अर्थ रस ही है। जिस प्रकार रस ही वृक्ष के पुष्प, शाखा, पत्ते इत्यादि में व्याप्त होकर इन सबको सत्ता देता है उसी प्रकार स्वः अमृत रूप है। जैसे कहा गया है—"जो सुख दुःख की मिलावट से रहित है जो ग्रस्त होकर नहीं रहता, अर्थात् जो सदा उदित ही रहता है, तथा जिसकी प्राप्ति में कोई भी रुकावट नहीं और जो इच्छा मात्र से विना यत्न के प्राप्त होता है वही सुख स्वः अर्थात् स्वर्ग शब्द से कहलाता है।"

इसी प्रकार प्रणव का जो अकार, उकार और मकार इन तीन नामों से बना है, भूः, भुवः, स्वः, के साथ मेल है (अर्थात् अकार भूः है, उकार भुवः है और मकार स्वः है)

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं परस्तात्।
अयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपनह्यामि इति ।

गुरुः शिष्यमभिनन्दति, हे शिष्येत्यध्याहारः, अहं त्वा त्वां यज्ञोपवीतं यज्ञस्य दीक्षारूपस्योप समीपे विशेषेणेतं ज्ञानं प्रत्यक्षीभूतमत एवोपवीतेन प्रोद्धृत दक्षिण बाहुना, यद्वावीञ् तन्तु सन्ताने सूत्रमयेनोपसूत्रमेव स्वरूपं यस्य सूत्रस्वरूपेणोपनह्यामि, नह् बन्धने, बन्धयामि । किमर्थं धारयामि ? इत्यतआह—

भाषा—गुरु शिष्य का स्वागत सत्कार करता है—यहां 'हे शिष्य' इन शब्दों का अध्याहार[1] किया जाता है । मैं (त्वा) तुझ को जिसे (यज्ञस्य) यज्ञ के (उप) समीप विशेषतया (इतं) जाना गया है, देखा गया है, इसी लिए (उपवीतेन) ऊपर उठाए हुए दाहिने बाजू द्वारा, अथवा वीञ् धातु का अर्थ सूतों को फैलाना होता है, तो 'उपवीतेन' का अर्थ है सूत्रों से बने हुए अर्थात् जिसका कलेवर सूत्रों का ही बना होता है, उस सूत्र रूपी यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) नह् धातु का अर्थ है बांधना तो (इस से तुम्हें) बान्धता हूँ । किस लिए यह तुम्हें पहनाता हूँ ? इस विषय में कहता है—

बलमस्तु तेजः । हे शिष्य ! बलमिन्द्रियनैपुण्यमस्तु तेजश्च विद्यादिनैपुण्यं तव यज्ञस्यातिपूज्यस्य, कुतोऽहमतिपूज्यः ? इत्यत आह—यज्ञोपवीतमसि-यज्ञस्यातिपूज्यस्यपरमात्मन उप समीपे विशेषेणेतं ज्ञातमसि तदंशत्वात् त्वत्समभेवतिधार्यम् । ततोऽपि किमर्थं धारयामि ? यतोऽहयज्ञोऽस्मि ? मैवं, सोऽपि त्वत्तोऽधिक एव, परममुत्कृष्टं पवित्रं पुण्यम् । स्वतः परमत्वात् तवापि यः सत्वं प्रापयति एव, स्वतोऽपि पुण्यत्वात्तवापि पवित्रयति । कुतः परमत्वं पवित्रत्वं चास्येत्यत आह—प्रजापतेर्यत्सहजं—

भाषा—'बलमस्तु तेजः'—अर्थात् हे शिष्य ! (इस से) बल अर्थात् इन्द्रियों को निपुणता तथा तेज अर्थात् विद्या आदि में निपुणता

१. जब कोई शब्द वाक्य में नहीं बताया गया हो, परन्तु उस शब्द का अर्थ वाक्य की रचना से अवश्य प्रतीत होता हो, तो उस शब्द की सत्ता की कल्पना उस वाक्य में की जाती है । इसी को अध्याहार कहते हैं ।

तुम्हें प्राप्त हो, क्योंकि तू यज्ञ है, अति पूजनीय है। भला मैं किस तरह से अति पूजनीय हूँ ? इस विषय में कहता है—'यज्ञोपवीतमसि' जो यज्ञ है, अति पूजनीय है, उस परमात्मा के (उप) समीप तू विशेषतया (इतं) जाना गया है क्योंकि तू उसी का अंश है। वह यज्ञोपवीत कैसा है ? यज्ञ बहुत ही पूजनीय है, उसी का अंश यज्ञोपवीत है। अतः वह भी तुम्हारे समान है, तो (इसी लिए) विशेषतया धारण करने योग्य है। फिर भी मैं इस यज्ञरूप यज्ञोपवीत को क्यों धारण करूं क्योंकि मैं स्वयं यज्ञस्वरूप हूँ ? ऐसी बात मत कहो, यह यज्ञोपवीत तो तुम से बढकर है, क्योंकि उत्कृष्ट है और पवित्र पुण्य रूप है। स्वयं उत्कृष्ट होने के कारण वह तुम्हें भी सत्त्वगुण देता है, आप भी पवित्र है इसलिए तुम्हें भी पवित्र बनाता है। यह यज्ञोपवीत किस कारण से उत्कृष्ट है और पवित्र है ? इस विषय में कहता है—"प्रजापतेर्यत्सहजं" अर्थात्–

यद्यज्ञोपवीतं प्रजापतेर्ब्रह्मणः सहजं सह जायते इति। कस्मात् ? परस्तात् परमात्मनः समीपात्। तथापि मम किमस्तीत्यत आह–आयुष्यं आयुषो हितमत एव प्रतिमुञ्च प्रकटी कुरु-शिष्य प्रशिष्यपरम्परया इत्यर्थः। ननु यदि अहमपि परमात्मस्वरूप एव तर्हि किमर्थं प्रकटी करोमीत्यत आह–अग्र्यं सृष्टेः पुरैव सम्पन्नं अत एव तवाप्यग्र्य ज्येष्टमित्यर्थः। कुतो ज्येष्टत्वमस्येत्यत आह–शुभ्रं–मायादि कलङ्कशून्यं अतस्त्वमपि शुभ्रत्वात्संप्रतिमुञ्चेति वाक्यार्थः शुभम्॥ ओं

भाषा—जो यज्ञोपवीत प्रजापति के (सहजं) अर्थात् साथ उत्पन्न हुआ है। किस से (यह यज्ञोपवीत उत्पन्न हुआ) ? यह यज्ञोपवीत सब से ऊंचे (अनुत्तर) परमात्मा के पास से उत्पन्न हुआ है। फिर भी मुझे इस से क्या ? इसके उत्तर में कहता है–'आयुष्यं'–यह आयु के लिए हितकारी (बढाने वाला) है। इसी लिए तुम 'प्रतिमुञ्च' प्रकट करो (इस परमार्थ को) अपने शिष्यों और उनके शिष्यों की परम्परा द्वारा आगे आगे प्रकट करते जाओ। भला यदि मैं भी परमात्मस्वरूप ही हूँ, तो किस लिए (इसके महत्त्व को) प्रकट करूं ? इसका उत्तर देता है–'अग्र्यं' अर्थात् यह सृष्टि से भी पहिले का ही बना है, इस कारण तुम से भी बडा है अर्थात् तुम्हारा ज्येष्ट है।

यह किस प्रकार सब से ज्येष्ट है ? इसका उत्तर कहता है— 'शुभ्रं' अर्थात् यह माया इत्यादि (तीनों मलों) के कलङ्क से रहित है। अतः तुम भी निर्मल होने के कारण (इस यज्ञोपवीत का पारमार्थिक स्वरूप दूसरों के उद्धार के लिए) अच्छी तरह से प्रकट करो। इस प्रकार सब का कल्याण हो।

श्री शिवार्पणमस्तु।

